जैन एवं बौद्ध धर्म में स्वहित और लोकहित का प्रश्न

स्वार्थ और परार्थ की समस्या बहुत पुरानी है। नैतिक चिन्तन के प्रारम्भ से ही स्वहित और लोकहित का प्रश्न महत्त्वपूर्ण रहा है। एक ओर चाणक्य कहते हैं -'स्त्री, धन आदि से बढ़कर अपनी रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए[१]।' विदुर ने भी कहा है - 'जो स्वार्थ को छोड़कर परार्थ करता है, जो मित्रों अर्थात् दूसरे लोगों के लिए व्यर्थ ही श्रम करता है वह मूर्ख ही है[२]।' किन्तु दूसरी ओर यह भी कहा जाता है, स्वहित के लिए तो सभी जीते हैं जो लोक हित के लिए, परार्थ के लिए जीता है, वस्तुत: उसका जीवन ही सफल है[३]। जिस जीवन में परोपकार वृत्ति नहीं हो उससे तो मरण ही अच्छा है[४]।

पाश्चात्य विचारक हरबर्ट स्पेन्सर ने तो स्वार्थ और परार्थ के इस प्रश्न को नैतिकता की वास्तविक समस्या कहा है। यहाँ तक कि पाश्चात्य आचारशास्त्रीय विचारणा में तो स्वार्थ की समस्या को लेकर दो दल बन गये। स्वार्थवादी विचारक जिनमें हाब्स, नीत्शे प्रभृति प्रमुख हैं, यह मानते हैं कि मनुष्य प्रकृत्या केवल स्वार्थ या अपने लाभ से प्रेरित होकर कार्य करता है। वे मानते हैं कि नैतिकता का वही सिद्धान्त समुचित है जो मानव प्रकृति की इस धारणा के अनुकूल हो। उनकी दृष्टि में अपने हित के कार्य करने में ही मनुष्य का श्रेय है। दूसरी ओर बेन्थम, मिल प्रभृति विचारक मानव की स्वसुखवादी मनोवैज्ञानिक प्रकृति को स्वीकार करते हुए भी बौद्धिक आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि परहित की भावना ही नैतिक दृष्टि से उचित है। नैतिक जीवन का साध्य परार्थ है। प्रो० मिल केवल परार्थ को स्वार्थ के बौद्धिक आधार पर सिद्ध कर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते वरन् आंतरिक अंकुश (Internal Sanition) के द्वारा उसे स्वाभाविक भी सिद्ध करते हैं, उनके अनुसार यह आंतरिक अंकुश सजातीयता की भावना है जो कि मानव में यद्यपि जन्मजात नहीं है, फिर भी अस्वाभाविक या अनैसर्गिक भी नहीं हैं। दूसरे अन्य विचारक भी जिनमें बटलर, कोंत, शॉपनहॉवर एवं टालस्टाय आदि प्रमुख हैं, मानव की मनोवैज्ञानिक प्रकृति में सहानुभूति, प्रेम आदि के तत्त्वों की उपस्थिति दिखाकर परार्थवादी या लोक मंगलकारी आचारदर्शन का सर्मथन करते हैं। हरबर्ट स्पेन्सर से लेकर ब्रेडले, ग्रीन, अरबन आदि समकालीन विचारकों तक की एक लम्बी परम्परा ने मानव जीवन के विभिन्न पक्षों को उभारते हुए स्वार्थवाद और परार्थवाद में सामान्य-शुभ (Common Good) के रूप में समन्वय साधने का प्रयास किया है। मानव प्रकृति में विविधताएँ हैं, उसमें स्वार्थ और परार्थ के तत्त्व आवश्यक रूप से उपस्थित हैं। आचारदर्शन का कार्य यह नहीं है कि वह स्वार्थवाद या परार्थवाद में से किसी एक सिद्धान्त का समर्थन या विरोध करे। उसका कार्य तो यह है कि 'स्व' और 'पर' के मध्य संघर्षों की सम्भावना का निराकरण किया जा सके। भारतीय आचारदर्शन कहाँ तक और किस रूप में स्व और पर के मध्य संघर्ष की सम्भावना को समाप्त करते हैं, इस बात की विवेचना के पूर्व हमें स्वार्थवाद और परार्थवाद के अर्थ पर भी विचार कर लेना होगा।

स्वार्थवाद 'आत्मरक्षण' है और परार्थवाद 'आत्मत्याग' है। मैकेन्जी लिखते हैं- 'जब हम केवल अपने ही व्यक्तिगत साध्य की सिद्धि चाहते हैं तब इसे स्वार्थवाद कहा जाता है; परार्थवाद है दूसरे के साध्य की सिद्धि का प्रयास करना[५]।' दूसरे शब्दों में स्वार्थवाद को स्वहितवादी दृष्टिकोण और परार्थवाद को लोकहितवादी दृष्टिकोण भी कह सकते हैं।

जैन दर्शन में स्वार्थ और परार्थ की समस्या

यदि स्वार्थ और परार्थ की उपरोक्त परिभाषा स्वीकार की जाए तो जैन दर्शन को न स्वार्थवादी कहा जा सकता है, न परार्थवादी ही। जैन दर्शन आत्मा के स्वगुणों के रक्षण एवं स्वाध्याय की बात कहता है, इस अर्थ में वह स्वार्थवादी है, लेकिन इसके साथ ही वह कषायात्मा के विसर्जन, वासनात्मक आत्मा के त्याग को भी आवश्यक मानता है और इस अर्थ में वह परार्थवादी भी कहा जा सकता है। यदि हम मैकेन्जी की परिभाषा को स्वीकार करें और यह मानें कि व्यक्तिगत साध्य की सिद्धि स्वार्थवाद और दूसरे के साध्य की सिद्धि का प्रयास परार्थवाद है, तो भी जैन दर्शन स्वार्थवादी और परार्थवादी दोनों ही सिद्ध होता है। वह व्यक्तिगत आत्मा से मोक्ष या सिद्धि का समर्थन करने के कारण स्वार्थवादी तो होगा ही लेकिन दूसरे की मुक्ति के हेतु प्रयासशील होने के कारण परार्थवादी भी कहा जा सकेगा। यद्यपि आत्म कल्याण, वैयक्तिक बंधन एवं दु:ख से निवृत्ति के दृष्टिकोण से तो जैन साधना का प्राण आत्महित ही है तथापि जिस लोक करुणा एवं लोकहित की अनुपम भावना से अर्हत् प्रवचन का प्रस्फुटन होता है उसे भी नहीं झुठलाया जा सकता[६]।

जैन साधना में लोकहित

आचार्य समन्तभद्र जिनस्तुति करते हुए कहते हैं - हे भगवान्! आपकी यह संघ (समाज) व्यवस्था सभी प्राणियों के दु:खों का अन्त करने वाली और सबका कल्याण (सर्वोदय) करने वाली है[७]। इससे बढ़कर लोक आदर्श और लोक मंगल की कामना क्या हो सकती है? प्रश्नव्याकरण सूत्र नामक आगम ग्रन्थ में कहा गया है- भगवान् का यह सुकथित प्रवचन संसार के सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिए है[८]। जैन साधना लोक मंगल की धारणा को लेकर ही आगे बढ़ती है। आगे उसी सूत्र में बताया गया है कि जैन साधना की पांचों महाव्रत सब प्रकार से लोकहित के लिए ही हैं[९]। अहिंसा की विवेचना करते हुए प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा गया है कि साधना के प्रथम स्थान पर स्थित यह अहिंसा सभी प्राणियों का कल्याण करने वाली है[१०]। यह भगवती अहिंसा प्राणियों में भयभीतों के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरण के समान है, पक्षियों के लिए आकाश-गमन के समान निर्बाध रूप से हितकारिणी है प्यासों को पानी के समान, भूखों को भोजन के समान, समुद्र में जहाज के समान, रोगियों के लिए औषधि के समान और अटवी में सहायक के समान है[११]। तीर्थंकर नमस्कार सूत्र (नमोत्थुणं) में तीर्थंकर के लिए लोकनाथ, लोकहितकर, लोकप्रदीप, अभय के दाता आदि जिन विशेषणों का उपयोग हुआ है वे भी जैन दृष्टि की लोक मंगलकारी भावना को स्पष्ट करते हैं। तीर्थंकरों का प्रवचन एवं धर्म प्रवर्तन प्राणियों के अनुग्रह के लिए होता है, न कि पूजा या सत्कार के लिए[१२]। यदि ऐसा माना जाए कि जैन साधना केवल आत्महित, आत्मकल्याण की बात कहती है तो फिर तीर्थंकर के द्वारा तीर्थप्रवर्तन या संघ संचालन का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता, क्योंकि कैवल्य की उपलब्धि के बाद उन्हें अपने कल्याण के लिए कुछ करना शेष ही नहीं रहता। अत: मानना पड़ेगा कि जैन साधना का आदर्श मात्र आत्म-कल्याण ही नहीं वरन् लोक-कल्याण भी है।

जैन दार्शनिकों ने आत्महित की अपेक्षा लोकहित को सदैव ही महत्त्व दिया है। जैन विचारणा के अनुसार साधना की सर्वोच्च ऊँचाई पर स्थित सभी जीवन्मुक्त आध्यात्मिक पूर्णता की दृष्टि से यद्यपि समान ही होते हैं फिर भी जैन विचारकों ने उनकी आत्महितकारिणी और लोकहितकारिणी दृष्टि के तारतम्य को लक्ष्य में रखकर उनमें उच्चावच्च क्रम को स्वीकार किया है। एक सामान्य केवली (जीवन्मुक्त) और तीर्थंकर में आध्यात्मिक पूर्णताएँ समान ही होती हैं, फिर भी तीर्थंकर की लोकहित की दृष्टि के कारण ही तीर्थंकर को सामान्य केवली की अपेक्षा उच्च स्थान दिया गया है।

जैन धर्म के अनुसार जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेने वाले व्यक्तियों के भी लोकहित के आधार पर तीन वर्ग होते हैं - १. तीर्थंकर २. गणधर ३. मुण्डकेवली।

१. तीर्थंकर - तीर्थंकर वह है जो सर्वहित के संकल्प को लेकर साधना मार्ग में आता है और अपनी आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी लोकहित में लगा रहता है। सर्वहित, सर्वोदय और लोक-कल्याण ही उसके जीवन का ध्येय होता है[१३]।

२. गणधर - सहवर्गीय हित के संकल्प को लेकर साधना क्षेत्र में प्रविष्ट होने वाला और अपनी आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त कर लेने पर भी सहवर्गीयों के हित एवं कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहने वाला साधक गणधर कहलाता है। वर्गहित या गण कल्याण गणधर के जीवन का ध्येय होता है[१४]।

३. सामान्य केवली या मुण्डकेवली - आत्म कल्याण को ही जिसने अपनी साधना का ध्येय बनाया होता है और जो इसी आधार पर साधना मार्ग में प्रवृत्त होता हुआ आध्यात्मिक पूर्णता की उपलब्धि करता है, वह मुण्डकेवली कहलाता है[१५]।

सामान्यतया विश्व-कल्याण और वैयक्तिक कल्याण की भावनाओं के आधार पर साधकों की ये विभिन्न कक्षाएँ निर्धारित की गई हैं। इसमें तीर्थंकर को सर्वोच्च स्थान इसलिए दिया जाता है कि वह लोक-कल्याण के आदर्श को अपनाता है। जिस प्रकार बौद्ध धर्म में बोधिसत्व और अर्हत् के आदर्शों में भिन्नता है उसी प्रकार जैन धर्म में तीर्थंकर और सामान्य केवली के आदर्शों में तारतम्यात्मक भिन्नता है।

इन सबके अतिरिक्त जैन धर्म में संघ (समाज) को सर्वोपरि माना गया है। संघहित समस्त वैयक्तिक साधनाओं से भी ऊपर है; परिस्थिति विशेष में संघ के कल्याण के लिए वैयक्तिक साधना का परित्याग भी आवश्यक माना गया है। जैन साहित्य में आचार्य कालक की कथा इसका सबल उदाहरण है[१६]।

स्थानांग सूत्र में जिन दस धर्मों (कर्त्तव्यों)[१७] का निर्देश किया गया है उसमें संघधर्म, गणधर्म, राष्ट्रधर्म, नगरधर्म, ग्रामधर्म और कुलधर्म की उपस्थिति इस बात का सबल प्रमाण है कि जैन दृष्टि न केवल आत्महित या वैयक्तिक विकास तक सीमित है, वरन् उसमें लोकहित या लोक-कल्याण का अजस्त्र प्रवाह भी प्रवाहित हो रहा है।

यद्यपि जैनदर्शन लोकहित, लोकमंगल की बात कहता है, लेकिन उसकी एक शर्त है, वह यह कि परार्थ के लिए स्वार्थ का विसर्जन किया जा सकता है, लेकिन आत्मार्थ का नहीं। उसके अनुसार वैयक्तिक भौतिक उपलब्धियों को लोक-कल्याण के लिए समर्पित किया जा सकता है और किया भी जाना चाहिए, क्योंकि वे हमें जगत् से ही मिली हैं, वे वस्तुत: संसार की हैं, हमारी नहीं। सांसारिक उपलब्धियाँ संसार के लिए हैं, अत: उनका लोकहित के लिए विसर्जन किया जाना चाहिए। लेकिन आध्यात्मिक विकास या वैयक्तिक नैतिकता को लोकहित के नाम पर कुण्ठित किया जाना, उसे स्वीकार नहीं है। ऐसा लोकहित जो व्यक्ति के चरित्र के पतन अथवा आध्यात्मिक कुण्ठन से फलित होता हो उसे स्वीकार नहीं है। लोकहित और आत्महित के सन्दर्भ में उसका स्वर्णसूत्र है आत्महित करो और यथाशक्य लोकहित भी करो लेकिन जहाँ आत्महित और लोकहित में द्वन्द्व हो और आत्महित के कुण्ठन पर ही लोकहित फलित होता हो तो वहाँ आत्म-कल्याण ही श्रेष्ठ है[१८]।

आत्महित स्वार्थ नहीं है - आत्महित स्वार्थवाद नहीं है। आत्मकाम वस्तुत: निष्काम होता है क्योंकि उसकी कोई कामना नहीं होती है, उसका कोई स्वार्थ नहीं होता। स्वार्थी तो वह है, जो यह चाहता है कि सभी लोग उसके हित के लिए कार्य करें। आत्मार्थी स्वार्थी नहीं है, उसकी दृष्टि तो यह होती है कि सभी अपने हित के लिए कार्य करें। स्वार्थ और आत्मकल्याण में मौलिक अन्तर यह है कि स्वार्थ की साधना में राग-द्वेष की वृत्तियाँ काम करती हैं जबकि आत्महित या आत्म-कल्याण के लिए राग-द्वेष से युक्त होकर आत्मकल्याण की सम्भावना ही नहीं रहती। यथार्थ आत्महित में राग-द्वेष का अभाव होता है। स्वार्थ और परार्थ में संघर्ष की सम्भावना भी तभी तक है जबकि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनमें कहीं राग-द्वेष की वृत्ति निहित हो। रागादि भाव या स्वहित की वृत्ति से किया जाने वाला परार्थ भी सच्चा लोकहित नहीं है, वह तो स्वार्थ ही है, जिस प्रकार के शासन के द्वारा नियुक्त एवं प्रेरित समाजकल्याण अधिकारी वस्तुत: लोकहित का कर्त्ता नहीं है, वह तो वेतन के लिए लोकहित करता है। उसी प्रकार राग से प्रेरित होकर लोकहित के प्रयत्न राग की अभिव्यक्ति, प्रतिष्ठा की रक्षा, यश अर्जन की भावना या भावी लाभ की प्राप्ति हेतु ही होते हैं। ऐसा परार्थ वस्तुत: स्वार्थ ही है। सच्चा आत्महित और सच्चा लोकहित, राग-द्वेष से शून्य अनासक्ति की भूमि पर प्रस्फुटित होता है लेकिन उस अवस्था में आकर न तो 'स्व' रहता है न 'पर' क्योंकि जहाँ राग है वहीं 'स्व' है और जहाँ 'स्व' है वहीं 'पर' है। राग की शून्यता होने पर स्व और पर का विभेद ही समाप्त हो जाता है, ऐसी राग शून्यता की भूमि पर स्थित होकर किया जाने वाला आत्महित भी लोकहित होता है और लोकहित आत्महित होता है। दोनों में कोई संघर्ष नहीं, कोई द्वैत नहीं है। उस दशा में न तो कोई अपना है, न कोई पराया। स्वार्थ और परार्थ जैसी समस्या यहाँ रहती ही नहीं।

जैन धर्म के अनुसार स्वार्थ और परार्थ के मध्य सभी अवस्थाओं में संघर्ष रहे यह आवश्यक नहीं है। व्यक्ति जैसे-जैसे भौतिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन की ओर ऊपर उठता जाता है, वैसे-वैसे स्वार्थ-परार्थ का संघर्ष भी समाप्त होता जाता है। जैन विचारकों ने परार्थ या लोकहित के तीन स्तर माने हैं १. द्रव्य लोकहित २. भाव लोकहित और ३. पारमार्थिक लोकहित।

१. द्रव्य लोकहित[१९] - यह लोकहित का भौतिक स्तर है। भौतिक उपादानों जैसे भोजन, वस्त्र, आवास आदि तथा शारीरिक सेवा के द्वारा लोकहित करना लोकहित का भौतिक स्तर है, यहाँ पर साधन भौतिक होते हैं। द्रव्य लोकहित एकान्त रूप से आचरणीय नहीं कहा जा सकता। यह अपवादात्मक एवं सापेक्ष नैतिकता का क्षेत्र है। भौतिक स्तर पर स्वहित की पूर्णतया उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। यहाँ तो स्वहित और परहित में उचित समन्वय बनाना ही अपेक्षित है। पाश्चात्य नैतिक विचारणा के परिष्कारित स्वार्थवाद, बौद्धिक परार्थवाद और सामान्य शुभ के सिद्धान्तों का विचार क्षेत्र लोकहित का यह भौतिक स्वरूप ही है।

२. भाव लोकहित[२०] - लोकहित का यह स्तर भौतिक स्तर से ऊपर स्थित है। यहाँ पर लोकहित के साधन ज्ञानात्मक या चैत्तसिक होते हैं। इस स्तर पर परार्थ और स्वार्थ में संघर्ष की सम्भावना अल्पतम होती है।

३. पारमार्थिक लोकहित [२१] - यह लोकहित का सर्वोच्च स्तर है, यहाँ आत्महित और परहित में कोई संघर्ष नहीं रहता; कोई द्वैत नहीं रहता। यहाँ पर लोकहित का रूप होता है-यथार्थ जीवन दृष्टि के सम्बन्ध में मार्ग दर्शन करना।

सन्दर्भ

१. आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपि धनैरपि -चाणक्य नीति

२. स्वमर्थ य: परित्यज्य परार्थमनुतिष्ठति
मिथ्या चरित मित्रार्थैयश्च मूढ़ स उच्यते ।। - विदुरनीति

३. आत्मार्थे जीवलोकेऽस्मिन् को न जीवति मानव: ।
परं परोपकारार्थं यो जीवति स जीवति ।।
-सुभाषित भाण्डागारम्

४. जीवितान्मरणं श्रेष्ठं परोपकृतिवर्जितात्।

५. नीति प्रवेशिका-मैकेन्जी-हिन्दी अनुवाद पृष्ठ, २३४।

६. सम्मेच्च लोए खेयन्नेहि पवइए - आचारांग

७. सर्वापदान्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।

८. सव्व जगजीव रक्खण दयट्ठाए पावयणं भगवं सुकहियं।
- प्रश्नव्याकरण सूत्र, २१/२२

९. महव्वयाईं लोकहिय सव्वयाई।
- वही, १/१/२१

१०. तत्थपठमं अहिंसा, तस थावर सव्वभूयखेमकरी।
- वही, १/१/३

११. वही, १/२/२२।

१२. प्राणिनामनुग्रहार्थम्, न पूजासत्कारार्थम्।
- सूत्रकृतांग (टी), १/६/४

१२. मोहान्धकार गहने संसार दु:खिता बत।
सत्वा परिभ्रमन्त्युच्कै सत्यस्मिन् धर्मतेजसि ।।
अह्येतानत: कृच्छाद यथायोग कथंचन।
अनेनोत्तारयामीर्ति वरबोधि समन्वित: ।।
करुणादि गुणोपेत: परार्थ व्यसनी सदा।
तथैव चेष्टते श्रीमान् वर्धमान महोदय: ।।
तत्कल्याण योगेने कुर्वन्सत्त्वार्थ मेवस:।
तीर्थकृत्वमवाप्नोति परं सवार्थ साधनम् ।।
- योगबिन्दु, २८५-२८८

१४. चिन्तयत्येवमेवैतत् स्वजनागतं तु य:।
तथानुष्ठानत: सोऽपि धीमान् गणधरोभवेत् ।।
- योगबिन्दु, २८९।

१५. संविग्नो भव निर्वेदादात्मनि: सरणं तु य:।
आत्मार्थ सम्प्रवृत्तो सौ सदा स्यान् मुण्डकेवली ।।
- योगबिन्दु, २९०।

१६. निशीथचूर्णि, गा० २८६०।

१७. स्थानांग०, १०/७६०

१८. आदहिदं कादव्वं जदि सक्कई परहिदं च कादव्वं।
आदहिद परहियादो आदहिदं सुट्ठ कादव्वं ।।
- उद्धृत्, आत्मसाधना संग्रह, पृ० ४४१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९. भोजनशयनाऽच्छादन प्रदानाऽदिलक्षण: । सचाल्पतया नात्यन्तिकश्चैहिकार्य स्याऽपि साधनेनैकान्तेन साधीयानिति ।
- अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ५, पु० ६९७

२०. भावोपकारस्त्वध्यापनश्रावणादिस्वरूपों गरीय नित्यात्यन्तिक उभयलोक सुखावहश्चेत्यतो भावोपकार एव यतितव्यम् ।
- अभिधानराजेन्द्र, खण्ड ५, पृ० ६९७

२१. परमार्थत: पारमेश्वर प्रवचनोपदेश एव तस्येव भवशतोपचित दु:खक्षयक्षमत्वात् - आह च नोपकारो जगत्यस्मिंस्ताद्दशो विद्यते क्वचित् । याद्दशी दु:खविच्छेदाद् देहिनां धर्मदेशना ।
-अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ५, पृ० ६९७ ।

पर्यावरण के प्रदूषण की समस्या और जैनधर्म

तीव्रता से बढ़ती हुई जनसंख्या और उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण प्रदूषित होते पर्यावरण की रक्षा का प्रश्न आज मानव समाज की एक ज्वलन्त समस्या है क्योंकि प्रदूषित होते हुए पर्यावरण के कारण न केवल मानवजाति अपितु पृथ्वी पर स्वयं जीवन के अस्तित्व को भी खतरा उत्पन्न हो गया है । उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण जीवन के लिये आवश्यक स्रोतों का इतनी तीव्रता से और इतनी अधिक मात्रा में दोहन हो रहा है कि प्राकृतिक तेल एवं गैस की बात तो दूर रही, अगली शताब्दी में पेयजल और सिंचाई हेतु पानी मिलना भी दुष्कर होगा । यही नहीं, शहरों में शुद्ध प्राणवायु के थैले लगाकर चलना होगा । अत: मानवजाति के भावी अस्तित्व के लिये यह आवश्यक हो गया है कि पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त करने के प्रयत्न अविलम्ब प्रारम्भ हो । यह शुभ-लक्षण है कि पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त करने की चेतना आज समाज के सभी वर्गों में जागी है और इसी क्रम में यह विचार भी उभर कर सामने आया है कि विभिन्न धार्मिक परम्पराओं में पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के ऐसे कौन से निर्देश हैं जिनको उजागर करके पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के सन्दर्भ में मानव समाज के विभिन्न वर्गों की चेतना को जागृत किया जा सके । इस सन्दर्भ में यहाँ मैं जैनधर्म की दृष्टि से ही आप लोगों के समक्ष अपने विचार रखूँगा ।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि जैनधर्म में भोगवृत्ति के प्रति संयम, अहिंसा और असंग्रह (अपरिग्रह) पर सर्वाधिक बल दिया गया है । उसके इन्ही मूलभूत सिद्धान्तों के आधार पर जैनधर्म में ऐसे अनेक आचार नियमों का निर्देश हुआ है जिनका परिपालन आज पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के लिये आवश्यक है । जैनधर्म के प्रवर्त्तक आचार्यों ने आज से ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व यह उद्घोषणा की थी कि न केवल प्राणीय जगत् एवं वनस्पति जगत् में जीवन की उपस्थिति है, अपितु उन्होंने यह भी कहा था कि पृथ्वी, पानी, वायु और अग्नि में भी जीवन हैं[१] । एक ओर तो वे यह मानते थे कि पृथ्वी, पानी एवं वनस्पति के आश्रित होकर अनेकानेक प्राणी अपना जीवन जीते हैं, अत: इनके दुरूपयोग, विनाश या हिंसा से उनका भी विनाश होता है[२] । दूसरे ये स्वयं भी जीवन हैं क्योंकि इनके अभाव में जीवन की कल्पना भी सम्भव नहीं है । क्या हम जल, वायु, पृथ्वीतत्त्व एवं ऊर्जा (अग्नितत्त्व) के अभाव में जीवन की कोई कल्पना भी कर सकते हैं ? ये तो स्वयं जीवन के अधिष्ठान हैं । अत: इनका दुरूपयोग या विनाश स्वयं जीवन का ही विनाश है । इसीलिये जैनधर्म में उसे हिंसा या पाप कहा गया है । हिन्दू धर्म में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु को जो देव रूप माना गया है, उसका आधार भी इनका जीवन के अधिष्ठान रूप होना ही है । जैन परम्परा में भगवान महावीर से पूर्व भगवान पार्श्व के काल में भी पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति में जीवन होने की यह अवधारणा उपस्थित थी । पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक -- ऐसे षट्जीवनिकायों की चर्चा प्राचीन जैन आगमों का प्रमुख विषय रहा है । आचारांगसूत्र (ई०पू० पाँचवी शती) का तो प्रारम्भ ही इन षट्जीवनिकायों के निरूपण से तथा उनकी हिंसा के कारणों एवं उनकी हिंसा से बचने के निर्देशों की चर्चा से ही होता है । इन षट्जीवनिकायों की हिंसा नहीं करने के सन्दर्भ में जैन आचार्यों के जो निर्देश हैं, वे पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने की दृष्टि से आज सर्वाधिक मूल्यवान बन गये हैं । आगे हम उन्हीं की चर्चा करेंगे ।

यह एक अनुभूत प्राकृतिक तथ्य है, एक जीवन की अभिव्यक्ति और अवस्थिति दूसरे शब्दों में उसका जन्म, विकास और अस्तित्व दूसरे जीवनों के आश्रित है -- इससे हम इंकार भी नहीं कर सकते हैं । किन्तु इस सत्य को समझने की जीवन-दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न रही हैं । एक दृष्टिकोण यह रहा है कि यदि एक जीवन दूसरे जीवन पर आश्रित है तो हमें यह अधिकार है कि हम जीवन के दूसरे रूपों का विनाश करके भी अपने अस्तित्व को बनाये रखें । पूर्व में 'जीवोजीवस्य भोजनम्' और पश्चिम में 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' (Struggle for existence) के सिद्धान्त इसी दृष्टिकोण के कारण अस्तित्व में आये । इनकी जीवन-दृष्टि हिंसक रही । इन्होंने विनाश से विकास का मार्ग चुना । आज पूर्व से पश्चिम तक इसी जीवन-दृष्टि का बोल-बाला है । जीवन के दूसरे रूपों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org